अपने सूरज पर विश्वास

सु आचार्य



कल्पना प्रकाशन
कृष्ण कुंज बीकानेर

प्रकाशक
कल्पना प्रकाशन
कृष्ण कुञ्ज
बीकानेर

प्रथम संस्करण : बसंत पंचमी 1984

मूल्य : पन्द्रह रु. मात्र

आवरण : हरिप्रकाश त्यागी

मुद्रक
जनसेवी प्रिण्टर्स
दाऊजी मंदिर
बीकानेर

अपनी बात

अपनी कविताओं के बारे में स्वयं कोई 'भाषण' देना निश्चय ही एक कठिन कार्य है। फिर भी जो कुछ महसूस करता रहता रहा हूं उसको बिना किसी भाषण चातुर्य के संक्षेप में ही कह देना अवश्य चाहूंगा।

मैं कविता क्यों लिखता हूं–यह एक सवाल है जो किसी के भी और मेरे भी मन में उठता है। कविता लिखने के पीछे कविता के अलावा भी कोई उद्देश्य हो सकता है यह, यह मैं नहीं समझ पाया। कविता लिखना मेरे लिये एक प्रकार के आन्तरिक तनाव से, छटपटाहट से उबरना रहा है।

कोई भी कलाकार किसी भी घटना से, स्थिति से प्रभावित हो सकता है–किसी भी व्यक्ति की तरह अनुभव सबको होता है और हर कोई उसे अभिव्यक्त भी करता है। लेकिन एक कवि का अभिव्यक्त अनुभव काव्यात्मक अनुभव होगा और तभी लगेगा कि कुछ ऐसा हुआ है जिसे रचना कहा जा सके।

शब्द को कितना व्यापक और गहरा अर्थ संस्कार दिया जा सकता है, यह कवि की क्षमता पर निर्भर करता है। और वह जितना ज्यादा उसे संस्कारित या परिष्कृत करेगा–कविता उतनी ही गहरी और स्तरीय होगी। साथ ही कवि के लिये यह भी आवश्यक है कि उसकी बात मानसिकता से जुड़े, कविता वहीं सार्थक हो जाती है।

इतना अवश्य कहूंगा कि चालू मुहावरों या नारेबाजी ने मुझे प्रभावित नहीं किया। एक कवि के रूप में अपने को केवल कविता से ही प्रतिबद्ध मानता हूं, किसी राजनैतिक दल या दर्शन से नहीं।

यह निर्विवाद ही है कि कला अपने समय से, अपने परिवेश से प्रभावित होगी ही। लेकिन परिवेश के नाम पर राजनैतिक नारेबाजी ही कविता नहीं होगी।

आदमी के अस्तित्व की स्थापना के लिये पूरे मानवीय सम्बन्धों को, मूल्यों को दृष्टिगत रखना होगा। मेरी कविता में आदमी के अस्तित्व की स्थापना के लिये बाधक व्यवस्था के प्रति आक्रोश है पर वह कोई दलगत आक्रोश नहीं है। दल भी अन्ततः व्यवस्था ही होता है।

इस दृष्टि से, साथ ही भाषा, शिल्प, कथ्य या लय आदि की दृष्टि से, ये कविताएं कहाँ तक प्रासंगिक और सार्थक बन पड़ी है-यह पाठक ही तय करें।

धन्यवाद

—वासु आचार्य

बाहेती चौक
बीकानेर

परम पूज्य पिता

स्व. श्री शिवदास आचार्य

और

ममतामयी माँ रूक्मणी देवी

के लिए

प्रकाशकीय

बड़ी द्रुत गति से बदलते जीवन मूल्यों ने मानवीय सम्बन्धों में भीतर ही भीतर एक दरार, एक रिक्तता पैदा कर दी है। यह चाहे व्यवस्था के माध्यम से हो रहा हो या सत्ता के अन्य किसी स्रोत से।

आदमी के अस्तित्व की पहचान ही खतरे में पड़ गई है। उसी की स्थापना का सकल्प लिये वासु आचार्य का पहला कविता संग्रह "अपने सूरज पर विश्वास" पाठकों तक पहुंचाने में हम गौरव महसूस करते है।

साहित्य की वर्तमान राजनीति से सर्वथा अलग कविता के लिए कविता सृजन में रत इनकी ये कविताएं पाठकों को कहीं गहरे छू कर सोचने को विवश करती है। कविताओं में व्यंग्य एवं आक्रोश भी है किन्तु वह छिछला नहीं है, उसमें कहीं छुपी पीड़ा है, कसक है।

बिना किसी पंडिताऊ भाषा के अपनी ही जमीन की गंध लिये ये कविताएं अपने परिवेश के कहीं कहीं तो इतनी निकट है कि पाठकों को अपनी घरू कविताएं ही लगने लगती है।

नारेबाजी के तेवर से अलग, अनुभव को काव्यात्मक अनुभव के रूप में सहज सम्प्रेषणीय भाषा में अभिव्यक्त करती हुई ये कविताएं वासु आचार्य की अलग से पहचान कराती है।

पेशे से अध्यापक वासु आचार्य अपने विभाग द्वारा शिक्षक दिवस' पर प्रकाशित काव्य संग्रहों में लगातार सम्मिलित किये जाते रहे हैं। इन संग्रहों के सम्पादकों एवं समीक्षकों यथा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नन्दकिशोर आचार्य, रामदेव आचार्य, विष्णु नागर जुगमिन्दर तायल एवं लीलाधर जगूड़ी आदि ने इनकी कविताओं को सराहा है।

हम आशा करते है कि वासु आचार्य का पहला कविता संग्रह "अपने सूरज पर विश्वास" हिन्दी कविता के क्षेत्र में ध्यान से पढ़ा जायेगा।

— जनसेवी

अनुक्रम :

अपने सूरज पर विश्वास

हवा
पेड़ों के पत्तों में
घुलकर
उन्हें गुँजा जाती है—
यह मुझे भाता है।

किन्तु इसका अर्थ
यह तो नहीं होता
कि मुझ पर
तुम्हारा मुल्लमा चढ जाय।

यह मुझे कभी नहीं भाया।
कि बताये गये
'एरो' की ओर ही चलूं
'किलोमीटर स्टोन'
मुझसे अपरिचित नहीं है।

मैंने नहीं ताका
कभी भी
सर्च लाइटों की ओर–
मुझे मेरे
सूरज पर
पूरा विश्वास है।

◘

चींटी भी

मैंने
जब कभी भी
अपने पेट को
देखा है
तो न जाने क्यों
रेंग कर
चलने वाली
चींटी भी
बहुत बहादुर लगी है
जो धूल में
अपने आकार जितना
निशान छोड़ जाती है

काश !
मैं जो हूं
वह नहीं होता.

काश !
मैं जो हूं
वह नहीं होता.

▣

चींटी भी

मैंने
जव कभी भी
अपने पेट को
देखा है
तो न जाने क्यों
रेंग कर
चलने वाली
चींटी भी
वहुत वहादुर लगी है
जो धूल में
अपने आकार जितना
निशान छोड़ जाती है

काश !
मै जो हूं
वह नहीं होता.

काश !
मैं जो हूं
वह नहीं होता.

हां......
मात्र बहने के लिये
बहता नहीं रहा

रूका हूं
रूकता भी हूं

किन्तु
मेरी आखों में
पत्थर के टुकड़े
नहीं जड़े
लेकिन मेरे दोस्त
बनी-बनायी सडक पर
एक लम्बे अर्से से
तुम्हे भागते हांफते
और बिना कुछ
हासिल किये देख

मेरे अन्तर से
किसी ने यही पुकारा

अच्छा चलो
मैंने स्वीकारा
तुम जीते मैं हारा

▣

सम्भलना उन्हीं को होगा

मैं ही क्यों चलूं
सर झुकाये झुकाये
मैं ही क्यों रुकूं
खाऊं ठोकर
करूं हाय हाय

जो जो ऊंची
इमारतों के झरोखों से
नजा बांधे
लोहे की चमचेड़
सड़क पर लटकाये
आतों जातों की
टोपियां उतार रहे हैं
(और साथ चलने का
दम भी भर रहे हैं)

सम्भलना उन्हीं को होगा
जो सीढ़ियों से नहीं
'लिफ्ट' से ऊपर चढ़े हैं

मैं ही क्यों पढ़ूं
उन्हें
मारतौल के साथ
जुलूस को पसीना छोड़
उनके भागते
पांवों के निशान ही

देंगे गवाही

हाँ......
माइक ने सदा
उनका साथ दिया है

या फिर कुछ......
(नहीं कहूंगा, मैं क्या कहूं)
उनके चमचो को
सब जानते हैं

मैं सीना तान के
चलूंगा
यह मानके चलूंगा
कि
शहर के दो छोर हो
'लाटसाव' नहीं हैं

बीच में भी
पानी है
उसमें भी कुछ
सजीव है
जो
लियाकत भी रखते हैं
और हरकत भी करते हैं



नई पुस्तक से

सीलन भरी
बदबूदार वो तंग गलियाँ
और...तंग होती जा रही हैं
और होती जा रही हैं
संकरी और संकुचित;

फूलों फलों से लदी
हरे लॉन वाली
चौड़ी कोठियाँ
और चौड़ी होती जा रही हैं
इधर मेरे बेटे ने
एक नई पुस्तक
खरीदी है—

उसमें वह
हर सुबह पढ़ता है :

वर्ग-भेद का
खात्मा
बहुत
जरूरी है.

कृपया कुत्तों से बचें

शहर से कुछ दूर
कुछ खास
लोगों के लिए
कुछ खास
ढंग से बनी हुई हैं
आलीशान कोठियां

उनमें से कुछ के
मुख्य द्वार पर
साफ लिखा हुआ है :

'कृपया कुत्तों से बचें !'

▣

इस विस्तृत मकान के सम्मुख

इस विस्तृत मकान के सम्मुख
स्पष्ट रूप से
आ चुका है
उसके अस्तित्व के
नष्ट होने का खतरा

क्योंकि
मकान के सभी पत्थरों में
लग चुकी है होड़
अपने आपको
ऊपरी मंजिल की
आखिरी सतह पर
शिखर रूप में देखने की

चौंक उठा है धरातल
होश में आ के तन गई है
दीवारें
महसूस होने लगा है
नींव के पत्थरों को
'अपने' का
बड़े सुघड़ व्यवस्थित पत्थरों की
जटिल व्यवस्था में
और वे
हो चुके हैं आतुर
विद्रोह करने को
▣

शहर की हरी पौध

शहर की हरी पौध
पाले की
लपेट में आ चुकी है

अपाहिज पौध
किसी
अन्धेरे कोने में
सुबकता सुबकता
ठँसने को है

सारा का सारा
अस्तित्व
हो गया है
बेपेन्दा

चारों ओर फैला है
एक सनसनाता सन्नाटा

सिर्फ—
कुछ मक्खियां हैं
जो भिनभिनाती फिरती हैं
बदन में

घबराकर
मैं अपना हाथ
अपनी नाक के पास
ले आता हूं

मालूम करने के लिये
कि सांस आती है
या नहीं

तभी
मुझे लगता है

मेरे सिर पर
मारे जा रहे हैं हथौड़े

और
अनायास ही
मैं चौंक पड़ता हूं

मैं जिन्दा हूं

मैं जिन्दा हूं.

⊡

तुम सिर्फ मुस्करा देते हो

अब मैं
दावे के साथ
कह सकता हूं कि
तुम जानकर भी
अनजान बन रहे हो

तुमने अपनी छत का
वही हिस्सा देखा है
जिसका चेहरा 'पूर्व' की ओर है

मगर तुम भूल रहे हो
छत का एक हिस्सा
पश्चिम की तरफ भी होता है

फिर भी
अस्त होने की
अनुभूति से परिचित होकर भी
अनभिज्ञ रहना चाहते हो

तभी तो
मैं जो कुछ कहता हूं
तुम सिर्फ मुस्करा देते हो
तुम जानते हो
मैं जिस मिट्टी में
सन सन के पला हूं
वह तुम्हारे
'पानी' से पोली नहीं होगी

मगर तुम्हारा
यह वहम जरूरी भी है
तुम्हारे ही भले के लिये
कि मैं जो कुछ बोलता हूं
वह सिवाय
बड़बड़ाने के और कुछ नहीं

और तुम जवाब में
अपना हाथ
हवा में हिला देते हो

मैं अपनी तनी गर्दन लिये
किसी गली में खो जाता हूं

तुम सोचते हो
'गली' भली मिली
बला टली

मैं सोचता हूं
गली से ही
'मैदान' शुरु होगा

▣

तुम इतराओ पीपल

नही हो सका
हरा भरा पीपल
किसी मंदिर का
न...सही, न ..सही

इस संघर्ष रत
रेत के टीवों का
ठूंठ ही सही
ठूंठ तो हूं न ?

क्या हुआ—
नही इतराया
न ही खनखनाया
पत्तों के साथ

हवा की वैसाखियो से
नही झूमा डालिओं के साथ
क्या हुआ ?

क्या हुआ
नही पूजा गया
तुम्हारी तरह पीपल
न...सही, न...सही
ठूंठ ही सही.

ठूंठ तो हूं न
जिस पर चढ़ बैठे



अपनी नरम नरम
हथेलियों से

सामने की भुग्गी के बच्चे
फटा कुर्त्ता जांघिया पहने
रेत में सने
कितने प्यारे
कितने अच्छे

भर जाता है मुझमें
उस घड़ी-एक अनोखा संगीत
लहर लहर आती है
सूखी नस नस
गा उठती है हरा भरा गीत

कितना हरा भरा हो
फैल जाता हूं
उस वक्त–

सच कहता हूं
आकाश भी सिमट जाता है

तुम इतराओ पीपल

अपने हरे भरे विस्तार पर

मुझे कत्तई रंज नहीं

अपने सिमटे सिकुड़े आकार पर
▣

हवा फैलने की बजाय ....

पता नहीं
क्या होता जा रहा है
हवा को
कि फैलने के बजाय
लील लेना चाहती है
अपने भीतर
सब कुछ

खिलता डोलता
बगीचा भी
झुलसता क्यों लगता है ?

पखेरूओं का झुन्ड
फैले परों से भी
औधा मुँह होकर
क्यों गिर पड़ना चाहता है ?

वे सभी लोग
जो सोते है
इस संकल्प के साथ
कि कल के
भोर के आकाश की
लालिमा को और गहरा देंगे

भर देगें पूरा आकाश
जर्द जिन्दगी के खिलाफ

लेकिन यह क्या
सुबह होने से पहले ही
वे सब पिघल कर
पता नहीं
कहां वह जाते है

कितने कितने लोग
कितना कितना दर्द
सह जाते है

और इधर मैं
होता जा रहा हूं
जंगल का सन्नाटा

ताकता रहता हूं
पेड़ के झरते पत्तों को
चुपचाप

पीले जर्द पत्ते
पीली जर्द जिन्दगी.



हवा ही है यह

हवा ही है यह
जो मेरे घर में
गली से होकर
घुस जाती है
और मेरा 'ढूँढ़ा'
बदबू से भर जाता है

हवा ही है यह
जो तुम्हारी कोठी में
बाहर लॉन में डोल रहे
गुलाब के फूलों से होकर
बिखर जाती है
और तुम्हारा बंगला
महक से भर जाता है

दरअसल
मेरे ढूँढे की बदबू
तुम्हारे बंगले की महक
कुछ नहीं है
यह केवल हवा ही है
हवा ही है यह
जो अभी तुम्हारे पक्ष में है
यह केवल हवा ही है
हवा ही है यह
जिसके पक्ष में
मैं नहीं हूं

हो सकता है

मैं हवा को
भाग्य भरोसे छोड़ दूँ
कुछ न कर सकूँ शायद
केवल अपने को
भीतर से कहीं तोड दूँ

लेकिन मेरा लडका
कई बार घर में
नाक भी सिकोडता है
कन्धों को झिझोंड़ता है
और अचानक पोथी पटक
पूछ बैठता है—

हमारे इधर ही
इतनी बदबू क्यों है पापा ?

मैं चमकती आँखों से
उसके तमतमाये चेहरे को
देखता हूं

वह पता नहीं
क्या···सोचता हुआ
किधर ताकता है
केवल मुट्ठियां ही बन्द नहीं करता
दांत भी भींचता है.



फिर मुट्ठियां भींचता हूं

मैंने तो समझा था
अब वैसा नही होगा
जैसा पहले हो गया था

कि मौत से संघर्ष करता
जख्मी शब्द
दूर किसी कन्दरा में
खो गया था

पता नही क्यों फिर
पिछले एक अर्से से
मेरे कानों के पास
गूंजने वाले शब्द
कलम की नोक पर
आते आते
तीर लगे पक्षी की तरह
घेर लेते है मुझको

मुझको लगता है

फिर किन्ही
खून सने पंजों ने
खरोंच तक का
निशान छोड़े बिना
दबोच कर फेंक दिया है मुझे
किसी सन्नाटे में

और मैं फिर
अपनी मुट्ठियां भींचता हूं
होठों में कुछ बुदबुदाता हूं.

पर मेरी जीभ पर

चाहे यह भी सही कि
मैं सीधा खड़ा भी
नहीं हो पाता

मेरी रीढ़ के
छोटे छोटे टुकड़ों के बीच
काँटा ताने बिच्छु बैठे हैं
पसलियाँ
और सीने की हड्डियाँ भी
सूखी डालों सी
चिपकी हुई है
शरीर से

पर मेरी जीभ पर
उग आई है
कुछ हड्डियाँ
निकल आए हैं सींग

और मैं खुश हूं
मैं भी
दिख तो जाऊँगा
जीभ से ही
तन तो जाऊँगा.

परतों

अकेला होते ही
अक्सर ऐसा होता है
मेरे इर्द-गिर्द होती है
शक्लें
और ये
धीरे धीरे
शक्ल बदलती रहती हैं

मेरे बालों को
सहला रही होती है
माँ
और मैं
अपने को
पूर्ण सुरक्षित समझता हूं
शायद वह कुछ
गुनगुना रही होती है

मेरे पिता
मेरी बाँह पकड़
खड़ा करते है
गालों पर हल्की
चपत लगाते है
और फिर कोई फल
थमा देते है हाथों में

मेरा बड़ा भाई

पर भरेगा कभी

अपनी टिप्पणी से
बीच के इतिहास को
अति क्रान्त करता हुआ

हाँ अभी यह सच है
पृष्ठ का बीच
हो पाया नहीं मैं

अभी मैं
हाशिय ही हूं



ग्रोर
मैं पसीना पसीना हुआ
बाहर भागने को होता हूं

दूर…दूर…तक
कोई नहीं दीखता

चारों ग्रोर
सन्नाटे की
सीटियां बज रही हैं

▣

धूल के कणों की तरह

उन दिनों जबकि
मैं अनाज खाया करता था
पानी पिया करता था
और जीता था
एक जिन्दगी

तब सोचता था
मैं बहुत कुछ न सही
किन्तु कुछ तो जरूर था
अपने अस्तित्व में
योग था
अन्तर था
गुणा था
भाग था
पर अब
सब कुछ करता तो
उसी तरह हूं
पर अपने अस्तित्व में
न तो योग हूं
न अन्तर हूं
न गुणा हूं
और न ही भाग
बल्कि शून्य हो गया हूं
और तब पाता हूं
स्वयं को
धूल के कणों की तरह
हवा में तैरता हुआ.

खाली गहरा कुआँ

रक्त प्रवाह में
वैसे कोई गड़बड़
नहीं दीखती

किन्तु फिर भी जैसे
निचोड़ के
रख दी गई हैं
तमाम धमनियाँ, शिराएँ

और
खाली गहरा कुआँ
बार बार
आतुर हो उठता है
फिर भी सुनने को
बैलों की पदचाप
गले बन्धी घंटियों की
आवाज

जबकि एक सन्नाटा
भरा पड़ा है
दीवार की परतों में
और तभी
रात-गहरा गई है
कुत्ते डरावनी
हूं…हूं की आवाजे
करने लगी हैं
गलियाँ थपकियाँ दे
सुला रही हैं-घरों को

जैसे मुझे
अपने साथ
खाना खाने बुलाता है
मैं
मुँह फुला लेता हूं
वो मुझे मनाता है
और एक दिन
कन्धे पर
लटका दिया जाता है
किताबों भरा
एक बस्ता
मैं गांधी के
जन्म और मृत्यु की
तारीखें घोटाता हूं.
अचानक⋯⋯
मेरे बच्चे का रोना
मुझे इन शक्लों से
बाहर ला पटकता है
मैं देखता हूं
मैं जिस
कमरे में सोया हूं
उसकी दीमक लगी छत में
एक मकड़ी
अपना जाला बुन रही है
मुझे लगता है
मेरा पूरा कमरा
एक जाला बन गया है

◙

कविता–मेरे लिये

होगा—
तुम्हारे लिये शब्द
महकता खिलता फूल
या कि ओस का
आबदार मोती
मेरे लिये वह
आग का जलता
लाल अंगारा है
तभी तो
कविता मेरे लिये
फूलों से लदी
कोई घाटी नहीं
और न ही
सोलह श्रृंगार से सजी
कोई मनमोहक नायिका
मेरे आस पास
न कोई झरना है
और न ही बाग बगीचा
मेरे इर्द गिर्द
दहकता रेतीला
सांय सांय करता
मैदान है
जिसमें दूर तक
कहीं गहरे है
मेरे रोम रोम की जड़

और इसीलिये
मेरे दोस्त
मेरे लिये कविता
आग की नदी है

आग की नदी
जिस पर कोई
पुल सम्भव नहीं

जिसमें उतरना है,
उबलना है।
उबलना है।



हाशिया ही हूँ अभी

यह सच है
पृष्ठ के बीच में नहीं हूं
हाशिये पर हूं

बीच का पृष्ठ
इतिहास बनाता है
गड़े मुर्दे उखाड़ता है
उखड़े मुर्दे गाड़ता है

पढ़ा और समझा जाता है

यह सच है
मैं पृष्ठ के बीच में नहीं
हाशिये पर हूं.

किन्तु हाशिया
किनारे होकर भी
किनारा नहीं करता

उठा हुआ
सर होता है वह

पसरे हुए हाथ नहीं

हाशिया वर्तमान की कसक है

हाशिये का दर्द
एक निरुपाय
खालीपन ही है अभी

जल रहा है
दूर·········
किसी झुके हुए
खम्भे पर
एक लट्टू.



हो सके तो चीखलो

उधर मत जाओ
ज्वालामुखी फट रहे हैं
तुम्हारे नन्हें से
कोमल पंख
झुलस कर रह जायेंगे

उधर तो रिजर्व है
आगप्रूफ
बड़े बड़े डंने वालों के लिए
सुरक्षित स्थान

मत मग्न होओ
जलक्रीड़ा में
सह नहीं पाओगे
तेज उठता ज्वार
वह तो
अनुकूल है
उन्हीं मछलियों के लिये
(जो 'व्हेल' से भी बडी हैं)

मत उड़ो आकाश में
चिमनियों के धुएँ से
बने बादल
जो नीचे से
ऊपर को बढ़ रहे हैं
फैल रहे हैं

तुम्हारा दम घोट देंगे
वह तो उन्हीं को सह्य है
जिनके पास
ऑक्सीजन स्टॉक में है

तुम कुछ भी मत करो

हो सके तो चीखलो

पूरे जोर के साथ
एक बार



कल तक मेरा वेटा

कल तक
मेरा वेटा मांग लेता था
मुझसे
खाने के लिए कोई टॉफी
या लिखने के लिये
कोई कॉपी
बेझिझक

ले लिया करता
मेरी पप्पी
या कि खींच लेता था
मेरी बढ़ी दाढ़ी
बेघड़क

मगर ग्राजकल
स्कूल से ग्राने के बाद
ग्रपना वस्ता
कोने में रख
ग्रपनी माँ से
'रोटी खिलादो' बोल
चुप हो रहता है

कॉपी या किताब के लिये
मुझसे नही
ग्रपनी माँ से कहता है
टॉफी तो……
जसे भूल ही गया है वह

बहुत खिन्नता से
देखा करता हूं
मैं
यह सब बदलाव

मुझे लगता है
घर के बाहर
उगे पेड़ ने
उस छोटे पेड़ ने
अपनी जड़ें छोड़ दी है

मैं ढूंढ़ता हूं
मेरे घर का लहराता
हिलोरें मारता समुद्र
कहाँ से
शुरू हुआ सूखना
मेरे कानों में
कमरे से
मेरे बेटे की आवाज आती है

वह शायद
कुछ उतार रहा है
अपने मन में
बैठा रहा है
अपने माथे में
'मांगना बुरी आदत है'
'बड़ों का आदर करो'
'अनुशासन ही जीवन है'--

▣

वह बस्ता लटकाये

वह बस्ता लटकाये
स्कूल जाता है
और मुँह लटकाये
लौट आता है

दिन भर
शाला के कमरे में
कोने में दुबका
या तो उँघता रहता है
या अचानक
हड़बड़ाकर
बाहर ताकता है

सूनी सूनी आँखो से

उसके कानों में
जैसे कही दूर से
आवाजे आती है :

गौरवमय अतीत

सम्राट अशोक
अशोक महान्

सुखी प्रजा
स्वर्ण युग

वह जैसे नीद से
जागकर
कुछ सोचना चाहता है

तभी फिर गूँजते है
कुछ शब्द :

देश का विकास
फलदायी योजना
पांच अरब रुपये व्यय
गाँव गाँव में खुशहाली

उज्जवल भविष्य

तभी घंटी बज उठती है

अचानक
उसे अपनी
बीमार माँ याद आती हैं
जिसने
उसके बापू से
छुपाकर
दबा रखा है
अपने तकिये के नीचे
कीमती दवाओं का रुक्का

वह शायद
कल फिर
बस्ता लटकाये
स्कूल जायेगा.

◘

मैं ही था भ्रम में

किसी और का
दोष नहीं इसमें
मैं ही था भ्रम में

कि बांधना चाहा—हवा को
समेटनी चाही धूप—बांहों में

और—जब तक
जैसे तैसे
सम्भाल पाता खुद को

तुम हवा की तरह
'छूकर'
चले गये थे
धूप की तरह
'महसूस' होकर
फैल गये थे

और अब शायद
तूफान उठने के पहले का
बवंडर ढ़ल रहा हैं

पल रहा है
भीतर
दूर किसी कोने में
एक गहरा
सन्नाटा……सन्नाटा.



यही मेरा निर्माण है

तुम मुझे मापते हो
तौलते हो
देखते हो सूंघते भी हो
यह मैं जानता हूं
किन्तु
यह भी जानता हूं कि
तुम सब का 'सब'
मेरे 'मैं' को
तोड़ नहीं सकता
हाँ मुर मुरा सकता है
और
यही मेरा निर्माण है
इतना ही नहीं
तुम मुझे
कुरेदते और कचोटते भी हो
मैं भी तुम्हें
कुरेद सकता हूं
कचोट सकता हूं
पर मैं ऐसा नहीं करता
मैं वाकिफ़ हूं–
मेरे ऐसा कर देने से ही तो
तुम्हारा लक्ष्य पूरा हो जायेगा
मैं समझ गया हूं
तुम इश्तिहार चिपकाने की
दीवार के सिवा–कुछ भी नहीं.

काला होता जा रहा खून

हो ही गई
अन्धी
फिर–
वह आँख
जो पिछले एक अर्से से
सब कुछ
देख चुकी थी
साफ साफ
चुपचाप

तभी तो
मोह का अहम्
तीर की तरह तना

जो–
उल्टे भेद गया
मेरा ही हृदय

पता नहीं क्यों
धमनियों में बहता
गाढा खून
पतला–निरा पतला
होता जा रहा है.

और
दिखने में

लाल रह कर भी
होता जा रहा है
काला–कहीं गहरे

मैं जैसे
चिमनियों से
उगले धुएँ में
लिपट जाता हूं

और
सूखती जीभ से
अपनी
मां को
पुकारना चाहता हूं



दर्द ! आह ! दर्द !

दर्द ! आह ! दर्द !
मैं बुदबुदाता हूं

कभी ऊकड़ू बैठता हूं
कभी सीधा
कभी दायें शरीर मरोड़ता हूं
कभी बायें

और दर्द फिर भी
न तो पकड़ पाता हूं
और न ही कम होता है

मेरे भीतर
गहरी निराशा का
घुप अन्धेरा
छाता जाता है

मुझे मेरे रोये रोये में
दर्द ही दर्द
महसूस होने लगता है.

अन्धेरे में
अन्धेरे के सिवाय
कुछ भी तो
नही दीख पाता

मुझे अपने गले में

लगता है–
कई कंकर लगातार
साँस नली तक
भरे हुए हैं

एक गहरी तन्द्रा
मुझे घेर लेती है

मेरे सोचने का क्रम
टूटता है
बनता है

कुछ बच्चे गली में
कांच की गोलियां
खेलते हैं
कभी 'लट्टू' चलाते हैं
कभी गेंद खेलते हैं

हा…हा… हा
ही…ही… हँसते हैं
और फिर
मैं भी जैसे
यह सब कर रहा हूँ
मुझे मेरी माँ
आवाज देती है
मेरी तन्द्रा
टूट जाती है

मैं जीना चाहता हूँ

एक तारा
आकाश में टूटा
लकीर बन
न जाने किधर गया

एक बच्चे के
रोने की आवाज
मेरे कानों से टकराई
अभी शेष है
बहुत रात
अन्धेरी रात

रात को
अक्सर ऐसा ही होता है
कि मेरी नींद
न जाने
कहाँ चली जाती है

हो जाता है
सारा बदन
पसीना पसीना
काँप उठता है
जैसे सारा रोम रोम

रात को
अक्सर ऐसा हो होता है.

रात के बाद दिन
और फिर दिन के बाद रात

बचपन !
अनोखा बचपन
काँच की गोलियों की तरह
लकड़ी के खिलौने
लट्टू की तरह
रबर की गेंद की तरह

फिर...
दर्द ! आह ! दर्द !

मेरे सारे बिस्तर में
जैसे सुइयाँ बिछी हैं

मैं तन कर बैठ जाता हूं

पास ही
मेरी पत्नी की
नींद की खर्र... खर्र
सुनाई देती है

मेरी अबोध बच्ची
शायद
रो रही है

मेरा दर्द
और मैं
सुबह के इन्तजार में.

▣

मैं जीना चाहता हूँ

एक तारा
आकाश में टूटा
लकीर बन
न जाने किधर गया

एक बच्चे के
रोने की आवाज
मेरे कानों से टकराई
अभी शेष है
बहुत रात
अन्धेरी रात

रात को
अक्सर ऐसा ही होता है
कि मेरी नींद
न जाने
कहाँ चली जाती है

हो जाता है
सारा बदन
पसीना पसीना
काँप उठता है
जैसे सारा रोम रोम

रात को
अक्सर ऐसा ही होता है.
रात के बाद दिन
और फिर दिन के बाद रात

चलता हुआ यही क्रम

जीने की ललक का
क्या हुआ ?

रास्ता बहुत लम्बा है
दुर्गम भी

बगीचे की प्याउ के आगे
इकट्ठे हुए
कबूतरों को रोज
देखता हूं–
थोड़ा सा दाना चुगने के बाद
किनारे पड़े
छोटे छोटे
कंकर भी चुगते.

उस वक्त
मेरे भीतर
जैसे खड़ा हो जाता है

हृष्टपुष्ट आदमी
मजबूत आदमी
जिन्दा आदमी.
जिन्दगी चाहने वाला
आदमी

जिसको रात अन्धेरी नहीं होगी

मैं जीना जाहता हूं
मैं जीना चाहता हूं.



क्रान्ति की भ्रान्ति

इतनी सामर्थ्य तो
निश्चय ही
मुझमे नहीं है

कि कर जाऊं
कोई बहुत बड़ी
या छोटी भी
क्रान्ति
या भर दूं
पूरे देश के सर में
भ्रान्ति

फिर भी आज
क्रान्ति शब्द के साथ
जीभ होठों पर
फिर-फिर जाती है

शायद
जगने लगा है
अन्दर का आदमी

पर
मैं जानता हूं
जितना बड़ा फर्क है
बाहर और अन्दर में

ठीक उतना है
बाहर और अन्दर में

मेरे अन्दर जाग रहा
यह आदमी
सूर्य को
अर्घ्य चढ़ाना चाहता है
एक बार

पर यह आंख
झटके से खुली है न
इसलिये
रजाई में घुसे घुसे ही
क्रान्ति के स्त्रोत
गुनगुनायेगा
फिर थोड़ा
कुन मुनायेगा

रजाई
कस कर
लपेटेगा
और
गहरी
नींद में
सो जायेगा :



बागवान की मंशा ?

मुझ में ही
अंकुरित हुआ
फला-फूला
और हो गया
हरा-भरा
लहराता-वह पेड़

उस दिन
बगीचे में
कुल्हाड़ो से काट रहा था
पेड़ की टहनियाँ

बागवान था वह
जो अपनी ही
दृष्टि का कोई नक्शा
उतारना चाहता था

पास ही
बिखरे पेड़ थे
सूखी घास के तिनके

जिन्हें चिड़िया बिन कर
बड़ी मेहनत से लायी थी

उसे भी तो
रहने को

अपने ढंग का
घर चाहिए था

जिसमे गा सके
स्वतन्त्र मन से
भोर का गीत

किन्तु अब
चिड़िया किधर गई
कुछ पता नहीं

बागवान का काम
पेड़ की
टहनियां काटना
पौध की
कलम करना
या कि
अनुशासन बद्ध ढंग से
पंक्तिवार......
क्यारियां लगाना होता है

उसे
चिड़िया की
पेड़ की
बाग की पीड़ा से
बल्कि पीड़ा से
क्यों सरोकार होगा ?

मैं भी एक बूंद सा

मैं
जब तुम से मिलता हूं
तुमः
मेरे सखा
मेरे अन्तरंग
मेरे पिता

पाता हूं
लहराता
विशाल सागर
अपने चारों ओर

तब आह्लाद भरा
डुबकियां लगाने लगता हूं
तुम्हारे भीतर

आबदार मोती
पाने के लिये

सम्पूर्णत्व
पाने के लिये

किन्तु···किन्तु
ऐसा कुछ नहीं होता
मेरे परम पिता

मैं ऊपर को
उछाल दिया जाता हूं

तुम्हारे ही द्वारा
थपेड़ों से

पर मुस्कुरा देता हूं कि
शायद इसी में हो
तुम्हारे
सागर होने का गुमान

लेकिन
पता नहीं क्यों
मेरी सम्पूर्ण चेतना
आस्था की बैसाखी पटक
तन जाती है

समुद्र से
मोती पाने के लिए
मछुआ होना जरूरी है
जिसके मुंह में
चाकू होता है

जो तुम्हारे भीतर
छुपे घड़ियाल
और न जाने
कितने जान लेवां
जानवरों से लड़ता
गहराई में उतरता है

मुझे पछतावा होता है
तले जाने का

तुम्हारा चेहरा देख लगता है
मैं और मेरी ही तरह
अनगिनत जो तुम्हें
सर्वस्व मान बैठे है
बून्दों की तरह हैं

और तब
पूरा समुद्र
टूटा दीखता है
बिखरा बिखरा
दीखता है

जहां तहां
बून्दें ही बून्दें
विहंसती है

और उनमें
मैं भी एक बून्द सा
अपना
अस्तित्व लिये
नाखुश नहीं होता
🙞

तुम नहीं अमूंजोगे

कुछ भी बोल पाना
कितना असम्भव है
हो जाता है

मैं
जैसे खुद से हो
विखर रहा होता हूं

बादल का बरसना
आकाश का
अमूंजना ही तो है

धरती का खिलना
बीज का
फूटना ही तो है

तो फिर मेरा
कुछ भी बोल पाना
खुद से विखरते जाना

क्यों खुद को
रचना नहीं हुआ ?

बोलो——बोलो
कुछ तो बोलो

या कि तुम भी
नहीं……
तुम नहीं अमूंजोगे
फूटोगे भी नहीं

बने बनाये
सृष्टा जो ठहरे तुम
सृष्टि कर्त्ता !
꙳

आग धरती से उठकर

सुनता रहा हूं
एक वक्त
आयेगा ऐसा

जब आकाश से
बरसायेंगे आग
ऊग कर बारह सूरज
एक साथ

और जल कर
नष्ट हो जायेगी
सारी सृष्टि
शेष बचेगी
केवल राख

वही प्रलय होगी

सोचता रहा हूं
क्यों नही हो रहा
इन्हीं दिनों ऐसा ?

लेकिन ऐसा होगा नहीं

क्योंकि
आग धरती से उठकर
जा रही है

आकाश की ओर
तब तू कहां बचेगा
सुखदाता दुःख त्राता

प्रलय हो जायेगी
आकाश में
तेरे ही घर के पास

एक ही
जलती धरती
ठंडे कर देगी
तेरे भय के
बारह सूरज
एक साथ

तब ··
तब तेरा कहां होगा निवास ?

❀

सुबह–सांझ

खुल जाती है
जब पखेरुओं की
बन्द चोंचें

और सारा बगीचा
गुलाब की
महक की तरह
चहचहाती आवाज़ों से
भर जाता है

जबकि
मुन्दती है
पखेरुओं की
खुली पलकें

और सारा बगीचा
मां की गोद में
लोरी सुनते
बच्चे की तरह
आंखे मून्दता है
❀

चैत का नीम

यों तो कई बार
सरसराती
वह जाती है हवा
पास से होकर

उस वक्त केवल
पहुँचा ही
फड़फड़ाता है

किन्तु वही
जब चैत के नीम के
फूलों से होकर
आती है—मेरे पास
रोम रोम सींच जाती है

और
हरा भरा महकता
डोलता नीम
हो जाता हूं मैं

❀

वही क्षण तो

वह हवा ही है
जो बजती रहती है
हमारे आस पास
सांसों का संगीत
जीवन का खेल

सब कुछ
कितना सहज

कितना रहस्यमय
कितना खुला-खुला !

क्या कभी
सुना है तुमने

जड़ों का स्वर
तने की थाप
पत्तों का संगीत

तभी तो
मेरे भीतर
पत्ते खनखनाते हैं

घोरों पर
मंडी लहरें
मेरे रोम रोम को

झंकृत कर जाती हैं

चहचहाते हैं
मेरे भीतर

पांखियों के झुंड
लहराता सरोवर
हरहराता

और
सभी कुछ
संगीत हो जाता है
वह क्षण

हां—
वही क्षण तो
है यह सब
❀

शब्द......शब्द नहीं रहते

इस तरह ही क्यों है कि
जब भी कोई तारा टूटता है
रात......
और निस्तब्ध हो जाती है मुझमे
रोंगटे......
रोंगटे नहीं रहते
डबडबायी आंखें हो जाते हैं

ऐसा
कुछ भी तो नहीं हुआ मुझमे
सच है
जिसे कोई
आकार दिया जा सके

तुमने ठीक कहा था

कितने बौने हो जाते हैं हम
अपने ही साये के साथ

तह में जाना
खतरनाक है
मौत के मुंह में
किसी तलाश की तरह

मैंने बहुत चाहा है

कुछ हो
मुझसे भी कुछ हो

न सही खिला तारा
टूटे तारों की तरह
क्षणिक लकीर ही हो
रोशनी की

ठीक है
ऐसा नही होता

लेकिन यह क्यों है फिर
कि जब भी
यह चाहा है

मेरे इर्द-गिर्द
मडराते शब्द
एक अन्धेरी
गुफा की तरह
जबड़े खोल देते हैं

जहाँ मेरी चीख
अन्धेरे और सन्नाटे की
सीटियों के साथ
अनसुनी हो जाती है
❀

प्यार की यादगार

ऐसा कुछ नहीं है
हमारे पास
कि हमारे न रहने पर भी
लोग करें विश्वास

कि रेत की
संगीत लहरों पर कभी

चांदनी की बरसात
पूर्णिमा की रात
खेजड़े की ओट
भीग भीग जाता
हमारा रोम रोम

और कहीं दूर
बज उठता
अलगोजा–

गूंज गूंज जाता
सारा जंगल

चरवाहे का दर्द
पहुंचाना चाहता
अपनी घरवाली के पास

और हम

अलगोजे
चान्दनी
मन्द मन्द हवा के
पर्याय हो जाते

यह सच है
हम कोई ताज महल
खड़ा नहीं कर सके

और उससे कहीं ज्यादा
यह सच है
कि हमें ऐसा करना
गवारा भी नहीं था

प्यार की यादगार
बेजुबान पत्थर नहीं हो सकते

जब जब भी
इस रेत के मैदान में

लाल केशरिया
घाघरे ओढ़ने
सावन के गीत गायेंगे
पनघट की ओर आते जाते

काली कलायण
उमग-उमग बरसेगी

किसी खेजड़ी पर
बैठा मोर
पुकारेगा मोरनी को

फूट फूट कर
बालियां निकलेंगी

लहरायेंगे
हरे भरे
ताजे सिट्टे

हर उस क्षण

हम कितने
ताजा होते रहेंगे

कितने नये……
कितने नये……

मैं कहना चाहूंगा

मैं कहना चाहूंगा
मैं जो कहूं उसे तुम समझोगे
जैसा मैं चाहूं वैसा चाहे नहीं
मगर सही सही ...सही

मैं शुरू से ही
यह मानता रहा हूं
कि मुझे जमीन की बालू से
बहुत लगाव रहा है
जो अपने को तोड़ती है
और मुझे बनाती है
आकाश में उड़ने वाली
रेत से
सदा सर को बचाना ही चाहा है

जब कभी रात को
आकाश देखता हूं
तो 'ध्रुव' पर
जिसकी दिशा स्थिर है
मेरी दृष्टि नहीं जाती

मैं उन तारों को
'देखने' को बड़ी तन्मयता के साथ
अपनी आँखें आकाश में गाड़ता हूं
जो चाहे धुंधले हैं

छोटे हैं
मगर जिनकी स्थिर दिशा ने
उन्हें जड़ नहीं बनाया है
और इसमें
मैं तुम्हारी नाराजगी को
दूर नहीं कर पाऊंगा कि
मैं ध्रुव तारे को ही सराहूं

पता नहीं क्यों–बचपन से ही
मैं अपनी माँ की ऊँगली पकड़
चलने से कतराता था
और बने बनाये
रास्तों से हट कर
कूदना फांदना पसन्द करता था

बचपन का यह आदत गई नहीं
और भी–परिपक्व ही हुई है

तो क्या–ऐसा नहीं हो सकता कि
तुम अपनी बैसाखियों के सहारे
भागो—दौड़ो—बढ़ो
और मुझे

अपने घिसटते पाँवों से ही
धीरे···धीरे···धीरे···धीर
धीरे···धीरे ही चलने दो,
▣

नहीं गया समुद्र

हां...... — हां
नहीं गया समुद्र
न ही बना गुरुत्तर

पोखर ही गया
लघुत्तर
बन गया पोखर

जब भी रहा हरा भरा
(जानता हूं बारहों मास नहीं रहता
पोखर ही हूं न !)

जब भी रहा हरा भरा
चैत की दुपहरी में ..
मांड गईं चिड़ियाएं
अपने पर
मेरे भीतर
उड़ गईं दो बून्द
चोंच भर

मैं निहाल हो गया

आया—वह बच्चों का झुन्ड
किलकारियां करता
गुंजा गया

पी गई जल
गाय बछिया
चली गई रम्भाती
तृप्त हो कर

मैं निहाल हो गया

तुम्हें होगा गर्व

समुद्र.........
समुद्र हो कर

मैं तो खुश हूं
पोखर हो कर

मैं तो खुश हूं
पोखर हो कर



वासु आचार्य

जन्म—11 जनवरी, 1944. बीकानेर के पुष्करणा ब्राह्मण परिवार में।

शिक्षा—बी. ए. तक स्थानीय रामपुरिया कॉलेज में। फिर आम भारतीय बेरोजगार युवा के कटु अनुभव.

1967 में बी. एड. अध्ययन कार्य सरकारी स्कूलो में।

1974 में एम. ए. इतिहास में, छात्र जीवन से ही कविता व पत्रकारिता मे रुचि। कविताओं का प्रकाशन स्थानीय पत्र यथा मरुदीप, सप्ताहन्त व झोंपड़ी की आवाज मे।

पत्रकारिता में स्थानीय पत्र 'अरू भरू' मे सं. नन्दकिशोर आचार्य के साथ कुछ समय कार्य.

1977 से राजस्थानी' मे भी कविताएँ लिखना शुरू.

पत्रिकाएँ जिनमें रचनाएँ प्रकाशित हुई वातायन, मधुमति, जागतीजोत हिन्दी कविताओं का यह पहला कविता संग्रह.